श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

कपिल गीता अध्याय(3.26)

वर्णन करने सांख्य योग का, और देने को ज्ञान ।
गुरु रूप में कपिल मुनि थे, देवहूति शिष्य समान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

तृतीय स्कंधः

॥ अथ षड्विंशोऽध्यायः ॥

श्रीभगवानुवाच

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि, तत्त्वानां(लँ) लक्षणं(म्) पृथक् ।
यद्विदित्वा विमुच्येत, पुरुषः(फ्) प्राकृतैर्गुणैः ॥ 1॥

श्रीभगवान् ने कहा- माताजी! अब मैं तुम्हें प्रकृति आदि सब तत्त्वोंके अलग-अलग लक्षण बतलाता हूँ; इन्हें जानकर मनुष्य प्रकृतिके गुणोंसे मुक्त हो जाता है।

ज्ञानं(न्) निः(श्)श्रेयसार्थाय, पुरुषस्यात्मदर्शनम् ।
यदाहुर्वर्णये तत्ते, हृदयग्रन्थिभेदनम् ॥ 2॥

आत्मदर्शनरूप ज्ञान ही पुरुषके मोक्षका कारण है। और वही उसकी अहङ्काररूप हृदयग्रन्थिका छेदन करनेवाला है, ऐसा पण्डितजन कहते हैं। उस ज्ञानका में तुम्हारे आगे वर्णन करता हूँ।

अनादिरात्मा पुरुषो, निर्गुणः(फ्) प्रकृतेः(फ्) परः ।

प्रत्यग्धामा स्वयञ्ज्योतिर्-विश्वं(यँ) येन समन्वितम् ॥ 3॥

यह सारा जगत् जिससे व्याप्त होकर प्रकाशित होता है, वह आत्मा ही पुरुष है। वह अनादि, निर्गुण, प्रकृतिसे परे, अन्तःकरणमें स्फुरित होनेवाला और स्वयंप्रकाश है।

स एष प्रकृतिं(म्) सूक्ष्मां(न्), दैवीं(ङ्) गुणमयीं(वँ) विभुः ।

यदृच्छयैवोपगता-मभ्यपद्यत लीलया ॥ 4॥

उस सर्वव्यापक पुरुषने अपने पास लीला-विलासपूर्वक आयी हुई अव्यक्त और त्रिगुणात्मिका वैष्णवी मायाको स्वेच्छासे स्वीकार कर लिया।

गुणैर्विचित्राः(स्) सृजतीं(म्), सरूपाः(फ्) प्रकृतिं(म्) प्रजाः ।

विलोक्य मुमुहे सद्यः(स्), स इह ज्ञानगूहया ॥ 5॥

लीलापरायण प्रकृति अपने सत्त्वादि गुणोंद्वारा उन्हींके अनुरूप प्रजाकी सृष्टि करने लगी; यह देख पुरुष ज्ञानको आच्छादित करनेवाली उसकी आवरणशक्तिसे मोहित हो गया, अपने स्वरूपको भूल गया।

एवं(म्) पराभिध्यानेन, कर्तृत्वं(म्) प्रकृतेः(फ्) पुमान् ।

कर्मसु क्रियमाणेषु, गुणैरात्मनि मन्यते ॥ 6॥

इस प्रकार अपनेसे भिन्न प्रकृतिको ही अपना स्वरूप समझ लेनेसे पुरुष प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जानेवाले कर्मो में अपनेको ही कर्ता मानने लगता है।

तदस्य सं(म्)सृतिर्बन्धः(फ्), पारतन्त्र्यं(ञ्) च तत्कृतम् ।

भवत्यकर्तुरीशस्य, साक्षिणो निर्वृतात्मनः ॥ 7॥

इस कर्तृत्वा भिमानसे ही अकर्ता, स्वाधीन, साक्षी और आनन्दस्वरूप पुरुषको जन्म-मृत्युरूप बन्धन एवं परतन्त्रताकी प्राप्ति होती है।

कार्यकारणकर्तृत्वे, कारणं(म्) प्रकृतिं(वँ) विदुः ।

भोक्तृत्वे सुखदुःखानां(म्), पुरुषं(म्) प्रकृतेः(फ्) परम् ॥ 8॥

कार्यरूप शरीर, कारणरूप इन्द्रिय तथा कर्तारूप इन्द्रियाधिष्ठातृ-देवताओंमें पुरुष जो अपनेपनका आरोप कर लेता है, उसमें पण्डितजन प्रकृतिको की कारण मानते हैं तथा वास्तवमें प्रकृतिसे परे होकर भी जो प्रकृतिस्थ हो रहा है, उस पुरुषको सुख दुःखोंके भोगने में कारण मानते हैं।

देवहूतिरुवाच

प्रकृतेः(फ्) पुरुषस्यापि, लक्षणं(म्) पुरुषोत्तम ।

ब्रूहि कारणयोरस्य, सदसच्च यदात्मकम् ॥ 9॥

देवहूतिने कहा- पुरुषोत्तम ! इस विश्वके स्थूल सूक्ष्म कार्य जिनके स्वरूप हैं तथा जो इसके कारण हैं उन प्रकृति और पुरुषका लक्षण भी आप मुझसे कहिये।

श्रीभगवानुवाच

यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तं(न्), नित्यं(म्) सदसदात्मकम् ।

प्रधानं(म्) प्रकृतिं(म्) प्राहु-रविशेषं(वँ) विशेषवत् ॥ 10॥

श्रीभगवान् ने कहा- जो त्रिगुणात्मक,अव्यक्त, नित्य और कार्य-कारणरूप है तथा स्वयं निर्विशेष होकर भी सम्पूर्ण विशेष धर्मोंका आश्रय है, उस प्रधान नामक तत्त्वको ही प्रकृति कहते हैं।

पञ्चभिः(फ्) पञ्चभिर्ब्रह्म, चतुर्भिर्दशभिस्तथा ।

एतच्चतुर्विं(म्)शतिकं(ङ्), गणं(म्) प्राधानिकं(वँ) विदुः ॥ 11॥

पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्रा, चार अन्तःकरण और दस इन्द्रिय-इन चौबीस तत्त्वोंके समूहको विद्वान् लोग प्रकृतिका कार्य मानते हैं।

महाभूतानि पञ्चैव, भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः ।

तन्मात्राणि च तावन्ति, गन्धादीनि मतानि मे ॥ 12॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत हैं; गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पाँच तन्मात्र माने गये हैं।

इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं(न्), त्वग् दृग्रसननासिकाः ।

वाक्करौ चरणौ मेढ्रं(म्), पायुर्दशम उच्यते ॥ 13॥

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, नासिका, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु ये दस इन्द्रियाँ हैं।

मनो बुद्धिरहङ्कारश्-चित्तमित्यन्तरात्मकम् ।

चतुर्धा लक्ष्यते भेदो, वृत्त्या लक्षणरूपया ॥ 14॥

मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार इन चारके रूपमें एक ही अन्तःकरण अपनी सङ्कल्प, निश्चय, चिन्ता और अभिमानरूपा चार प्रकारकी वृत्तियोंसे लक्षित होता है।

एतावानेव सङ्ख्यातो, ब्रह्मणः(स्) सगुणस्य ह ।

सन्निवेशो मया प्रोक्तो, यः(ख्) कालः(फ्) पञ्चविं(म्)शकः ॥ 15॥

इस प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुषोंने सगुण ब्रह्मके सन्निवेशस्थान इन चौबीस तत्त्वोंकी संख्या बतलायी है। इनके सिवा जो काल है, वह पचीसवाँ तत्त्व है।

प्रभावं(म्) पौरुषं(म्) प्राहुः(ख्), कालमेके यतो भयम् ।

अहङ्कारविमूढस्य, कर्तुः(फ्) प्रकृतिमीयुषः ॥ 16॥

कुछ लोग कालको पुरुषसे भिन्न तत्त्व न मानकर पुरुषका प्रभाव अर्थात् ईश्वरकी संहारकारिणी शक्ति बताते हैं। जिससे मायाके कार्यरूप देहादिमें आत्मत्वका अभिमान करके अहङ्कारसे मोहित और अपनेको कर्ता माननेवाले जीवको निरन्तर भय लगा रहता है।

प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य, निर्विशेषस्य मानवि ।

चेष्टा यतः(स्) स भगवान्, काल इत्युपलक्षितः ॥ 17॥

मनुपुत्रि! जिनकी प्रेरणासे गुणोंकी साम्यावस्थारूप निर्विशेष प्रकृतिमें गति उत्पन्न होती है, वास्तवमें वे पुरुषरूप भगवान् ही 'काल' कहे जाते हैं।

अन्तः(फ्) पुरुषरूपेण, कालरूपेण यो बहिः ।

समन्वेत्येष सत्त्वानां(म्), भगवानात्ममायया ॥ 18॥

इस प्रकार जो अपनी मायाके द्वारा सब प्राणियोंके भीतर जीवरूपसे और बाहर कालरूपसे व्याप्त हैं, वे भगवान् ही पचीसवें तत्त्व हैं।

दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां(म्), स्वस्यां(यँ) योनौ परः(फ्) पुमान्

आधत्त वीर्यं(म्) सासूत, महत्तत्त्वं(म्) हिरण्मयम् ॥ 19॥

जब परमपुरुष परमात्माने जीवो के अदृष्टवश क्षोभको प्राप्त हुई सम्पूर्ण जीवोंकी उत्पत्तिस्थानरूपा अपनी माया में चिच्छक्तिरूप वीर्य स्थापित किया, तो उससे तेजोमय महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ।

विश्वमात्मगतं(वँ) व्यञ्जन्, कूटस्थो जगदङ्कुरः ।

स्वतेजसापिबत्तीव्र-मात्मप्रस्वापनं(न्) तमः ॥ 20॥

लय-विक्षेपादि रहित तथा जगत्के अङ्कुररूप इस महत्तत्त्वने अपने में स्थित विश्वको प्रकट करनेके लिये अपने स्वरूपको आच्छादित करनेवाले प्रलयकालीन अन्धकारको अपने ही तेजसे पी लिया।

यत्तत्सत्त्वगुणं(म्) स्वच्छं(म्), शान्तं(म्) भगवतः(फ्) पदम् ।

यदाहुर्वासुदेवाख्यं(ञ्), चित्तं(न्) तन्महदात्मकम् ॥ 21॥

जो सत्त्वगुणमय, स्वच्छ, शान्त और भगवान्को उपलब्धिका स्थानरूप चित्त है, वही महत्तत्त्व है और उसीको 'वासुदेव' कहते हैं।

स्वच्छत्वमविकारित्वं(म्), शान्तत्वमिति चेतसः ।

वृत्तिभिर्लक्षणं(म्) प्रोक्तं(यँ), यथापां(म्) प्रकृतिः(फ्) परा ॥ 22॥

जिस प्रकार पृथ्वी आदि अन्य पदार्थोंके संसर्गसे पूर्व जल अपनी स्वाभाविक (फेन तरङ्गादिरहित) अवस्था में अत्यन्त स्वच्छ, विकारशून्य एवं शान्त होता है, उसी प्रकार अपनी स्वाभाविकी अवस्थाकी दृष्टिसे स्वच्छत्व, अविकारित्व और शान्तत्व ही वृत्तियोसहित चित्तका लक्षण कहा गया है।

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्-भगवद्वीर्यसम्भवात् ।
क्रियाशक्तिरहङ्कारस्-त्रिविधः(स्) समपद्यत ॥ 23॥
वैकारिकस्तैजसश्च, तामसश्च यतो भवः ।
मनसश्चेन्द्रियाणां(ञ्) च, भूतानां(म्) महतामपि ॥ 24॥

तदनन्तर भगवान्‌की वीर्यरूपचित्-शक्ति उत्पन्न हुए महत्तत्त्वके विकृत होनेपर उससे क्रिया-शक्तिप्रधान अहङ्कार उत्पन्न हुआ। वह वैकारिक, तैजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका है। उसीसे मन, इन्द्रियों और पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति हुई।

सहस्रशिरसं(म्) साक्षा-द्यमनन्तं(म्) प्रचक्षते ।
सङ्कर्षणाख्यं(म्) पुरुषं(म्), भूतेन्द्रियमनोमयम् ॥ 25॥

इस भूत, इन्द्रिय और मनरूप अहङ्कारको ही पण्डितजन साक्षात् 'सङ्कर्षण' नामक सहस्र सिरवाले अनन्तदेव कहते हैं।

कर्तृत्वं(ङ्) करणत्वं(ञ्) च, कार्यत्वं(ञ्) चेति लक्षणम् ।
शान्तघोरविमूढत्व-मिति वा स्यादहंकृतेः ॥ 26॥

इस अहङ्कारका देवतारूपसे कर्तृत्व, इन्द्रियरूपसे करणत्व और पञ्चभूतरूपसे कार्यत्व लक्षण है तथा सत्त्वादि गुणोंके सम्बन्धसे शान्तत्व, घोरत्व और मूढत्व भी इसीके लक्षण है।

वैकारिकाद्विकुर्वाणान्-मनस्तत्त्वमजायत ।
यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां(वँ), वर्तते कामसम्भवः ॥ 27॥

उपर्युक्त तीन प्रकारके अहङ्कारमेंसे वैकारिक अहङ्कारके विकृत होनेपर उससे मन हुआ, जिसके सङ्कल्प-विकल्पोंसे कामनाओंकी उत्पत्ति होती है।

यद्विदुर्ह्यनिरुद्धाख्यं(म्), हृषीकाणामधीश्वरम् ।
शारदेन्दीवरश्यामं(म्), सं(म्)राध्यं(यँ) योगिभिः(श्) शनैः ॥ 28॥

यह मनस्तत्त्व ही इन्द्रियोंके अधिष्ठाता 'अनिरुद्ध' के नामसे प्रसिद्ध है। योगिजन शरत्कालीन नीलकमलके समान श्याम वर्णवाले इन अनिरुद्धजीकी शनैः-शनैः मनको वशीभूत करके आराधना करते हैं।

तैजसात्तु विकुर्वाणाद्-बुद्धितत्त्वमभूत्सति ।
द्रव्यस्फुरणविज्ञान-मिन्द्रियाणामनुग्रहः ॥ 29॥

साध्वि ! फिर तैजस अहङ्कारमें विकार होनेपर उससे बुद्धितत्त्व उत्पन्न हुआ। वस्तुका स्फुरणरूप विज्ञान और इन्द्रियोंके व्यापारमें सहायक होना -पदार्थोंका विशेष ज्ञान करना-ये बुद्धिके कार्य हैं।

संं(म्)शयोऽथ विपर्यासो, निश्चयः(स्) स्मृतिरेव च ।

स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्-लक्षणं(वँ) वृत्तितः(फ्) पृथक् ॥ 30॥

वृत्तियोंके भेदसे संशय, विपर्यय (विपरीत ज्ञान), निश्चय स्मृति और निद्रा भी बुद्धिके ही लक्षण हैं। यह बुद्धितत्त्व ही 'प्रद्युम्न' है।

तैजसानीन्द्रियाण्येव, क्रियाज्ञानविभागशः ।

प्राणस्य हि क्रियाशक्तिर्-बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता ॥ 31॥

इन्द्रियाँ भी तेजस अहङ्कारका ही कार्य है। कर्म और ज्ञानके विभागसे उनके कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दो भेद हैं। इनमें कर्म प्राणकी शक्ति है और ज्ञान बुद्धिकी

तामसाच्च विकुर्वाणाद्-भगवद्वीर्यचोदितात् ।

शब्दमात्रमभूत्तस्मान्-नभः(श्) श्रोत्रं(न्) तु शब्दगम् ॥ 32॥

भगवान्‌की चेतनशक्तिको प्रेरणासे तामस अहङ्कारके विकृत होनेपर उससे शब्दतन्मात्रका प्रादुर्भाव हुआ। शब्दतन्मात्रसे आकाश तथा शब्दका ज्ञान करानेवाली श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न हुई ।

अर्थाश्रयत्वं(म्) शब्दस्य, द्रष्टुर्लिङ्गत्वमेव च ।

तन्मात्रत्वं(ञ्) च नभसो, लक्षणं(ङ्) कवयो विदुः ॥ 33॥

अर्थका प्रकाशक होना, ओटमें खड़े हुए वक्ताका भी ज्ञान करा देना और आकाशका सूक्ष्म रूप होना—विद्वानोंके मतमें यही शब्दके लक्षण हैं।

भूतानां(ञ्) छिद्रदातृत्वं(म्), बहिरन्तरमेव च ।

प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वं(न्), नभसो वृत्तिलक्षणम् ॥ 34॥

भूतोंको अवकाश देना, सबके बाहर-भीतर वर्तमान रहना तथा प्राण, इन्द्रिय और मनका आश्रय होना—ये आकाशके वृत्ति (कार्य) रूप लक्षण है।

नभसः(श्) शब्दतन्मात्रात्-कालगत्या विकुर्वतः ।

स्पर्शोऽभवत्ततो वायुस्-त्वक्स्पर्शस्य च सङ्ग्रहः ॥ 35॥

फिर शब्दतन्मात्र के कार्य आकाशमें कालगतिसे विकार होनेपर स्पर्शतन्मात्र हुआ और उससे वायु तथा स्पर्शका ग्रहण करानेवाली त्वगिन्द्रिय (त्वचा) उत्पन्न हुई।

मृदुत्वं(ङ्) कठिनत्वं(ञ्) च, शैत्यमुष्णत्वमेव च ।

एतत्स्पर्शस्य स्पर्शत्वं(न्), तन्मात्रत्वं(न्) नभस्वतः ॥ 36॥

कोमलता, कठोरता, शीतलता और उष्णता तथा वायुका सूक्ष्म रूप होना—ये स्पर्शके लक्षण हैं।

चालनं(वँ) व्यूहनं(म्) प्राप्तिर्-नेतृत्वं(न्) द्रव्यशब्दयोः ।

सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं(वँ), वायोः(ख्) कर्माभिलक्षणम् ॥ 37॥

वृक्षकी शाखा आदिको हिलाना, तृणादिको इकट्ठा कर देना, सर्वत्र पहुँचना गन्धादियुक्त द्रव्यको घ्राणादि इन्द्रियोंके पास तथा शब्दको श्रोत्रेन्द्रियके समीप ले जाना तथा समस्त इन्द्रियोंको कार्यशक्ति देना-ये वायुकीवृत्तियों के लक्षण हैं।

वायोश्च स्पर्शतन्मात्राद्-रूपं(न्) दैवेरितादभूत् ।

समुत्थितं(न्) ततस्तेजश्-चक्षू रूपोपलम्भनम् ॥ 38॥

तदनन्तर दैवकी प्रेरणासे स्पर्शतन्मात्रविशिष्ट वायुके विकृत होनेपर उससे रूपतन्मात्र हुआ तथा उससे तेज और रूपको उपलब्ध करानेवाली नेत्रेन्द्रियका प्रादुर्भाव हुआ।

द्रव्याकृतित्वं(ङ्) गुणता, व्यक्तिसं(म्)स्थात्वमेव च ।

तेजस्त्वं(न्) तेजसः(स्) साध्वि, रूपमात्रस्य वृत्तयः ॥ 39॥

साध्वि ! वस्तुके आकारका बोध कराना, गौण होना- द्रव्यके अङ्गरूपसे प्रतीत होना, द्रव्यका जैसा आकार-प्रकार और परिमाण आदि हो, उसी रूपमें उपलक्षित होना तथा तेजका स्वरूपभूत होना ये सब रूपतन्मात्रकी वृत्तियाँ हैं।

द्योतनं(म्) पचनं(म्) पान-मदनं(म्) हिममर्दनम् ।

तेजसो वृत्तयस्त्वेताः(श्), शोषणं(ङ्) क्षुत्तृडेव च ॥ 40॥

चमकना, पकाना, शीतको दूर करना, सुखाना, भूख-प्यास पैदा करना और उनकी निवृत्तिके लिये भोजन एवं जलपान कराना—ये तेजकी वृत्तियाँ हैं।

रूपमात्राद्विकुर्वाणात्-तेजसो दैवचोदितात् ।

रसमात्रमभूत्तस्मा-दम्भो जिह्वा रसग्रहः ॥ 41॥

फिर दैवकी प्रेरणा से रूपतन्मात्रमय तेजके विकृत होनेपर उससे रसतन्मात्र हुआ और उससे जल तथा रसको ग्रहण करानेवाली रसनेन्द्रिय (जिह्वा) उत्पन्न हुई।

कषायो मधुरस्तिक्तः(ख्), कट्वम्ल इति नैकधा ।

भौतिकानां(वँ) विकारेण, रस एको विभिद्यते ॥ 42॥

रस अपने शुद्ध स्वरूपमें एक ही है; किन्तु अन्य भौतिक पदार्थोंके संयोगसे वह कसैला, मीठा, तीखा, कड़वा, खट्टा और नमकीन आदि कई प्रकारका हो जाता है।

क्लेदनं(म्) पिण्डनं(न्) तृप्तिः(फ्), प्राणनाप्यायनोन्दनम् ।

तापापनोदो भूयस्त्व- मम्भसो वृत्तयस्त्विमाः ॥ 43॥

गीला करना, मिट्टी आदिको पिण्डाकार बना देना, तृप्त करना, जीवित रखना, प्यास बुझाना, पदार्थोंको मृदु कर देना, तापकी निवृत्ति करना और कूपादिमेसे निकाल लिये जानेपर भी वहाँ बार-बार पुनः प्रकट हो जाना ये जलकी वृत्तियाँ हैं।

रसमात्राद्विकुर्वाणा-दम्भसो दैवचोदितात् ।

गन्धमात्रमभूत्तस्मात्-पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः ॥ 44॥

इसके पश्चात् दैवप्रेरित रसस्वरूप जलके विकृत होनेपर उससे गन्धतन्मात्र हुआ और उससे पृथ्वी तथा गन्धको ग्रहण करानेवाली घ्राणेन्द्रिय प्रकट हुई।

करम्भपूतिसौरभ्य-शान्तोग्राम्लादिभिः(फ्) पृथक् ।

द्रव्यावयववैषम्याद्-गन्ध एको विभिद्यते ॥ 45॥

गन्ध एक ही है; तथापि परस्पर मिले हुए द्रव्यभागोंकी न्यूनाधिकतासे वह मिश्रितगन्ध, दुर्गन्ध, सुगन्ध, मृदु, तीव्र और अम्ल (खट्टा) आदि अनेक प्रकारका हो जाता है।

भावनं(म्) ब्रह्मणः(स्) स्थानं(न्), धारणं(म्) सद्विशेषणम् ।

सर्वसत्त्वगुणोद्भेदः(फ्), पृथिवीवृत्तिलक्षणम् ॥ 46॥

प्रतिमादिरूपसे ब्रह्मकी साकार-भावनाका आश्रय होना, जल आदि कारण तत्त्वोंसे भिन्न किसी दूसरे आश्रयकी अपेक्षा किये बिना ही स्थितरहना, जल आदि अन्य पदार्थोंको धारण करना, आकाशादिका अवच्छेदक होना (घटाकाश, मठाकाश आदि भेदोंको सिद्ध करना) तथा परिणामविशेषसे सम्पूर्ण प्राणियोंके (स्त्रीत्व,पुरुषत्व आदि) गुणोंको प्रकट करना-ये पृथ्वीके कार्यरूप लक्षण है, वायुका

नभोगुणविशेषोऽर्थो, यस्य तच्छ्रोत्रमुच्यते ।

वायोर्गुणविशेषोऽर्थो, यस्य तत्स्पर्शनं(वँ) विदुः ॥ 47॥

आकाशका विशेष गुण शब्द जिसका विषय है, वह श्रोत्रेन्द्रिय है; वायुका विशेष गुण स्पर्श जिसका विषय है, वह त्वगिन्द्रिय है।

तेजोगुणविशेषोऽर्थो, यस्य तच्चक्षुरुच्यते ।

अम्भोगुणविशेषोऽर्थो, यस्य तद्रसनं(वँ) विदुः ।

भूमेर्गुणविशेषोऽर्थो, यस्य स घ्राण उच्यते ॥ 48॥

तेजका विशेष गुण रूप जिसका विषय है, वह नेत्रेन्द्रिय है; जलका विशेष गुण रस जिसका विषय है, वह रसनेन्द्रिय है और पृथ्वीका विशेष गुण गन्ध जिसका विषय है, उसे घ्राणेन्द्रिय कहते है।

परस्य दृश्यते धर्मो, ह्यपरस्मिन् समन्वयात् ।

अतो विशेषो भावानां(म्), भूमावेवोपलक्ष्यते ॥ 49॥

वायु आदि कार्य-तत्त्वोंमें आकाशादि कारण तत्वोंके रहनेसे उनके गुण भी अनुगत देखे जाते हैं; इसलिये समस्त महाभूतों के गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध केवल पृथ्वीमें ही पाये जाते हैं।

एतान्यसं(म्)हत्य यदा, महदादीनि सप्त वै ।

कालकर्मगुणोपेतो, जगदादिरुपाविशत् ॥ 50॥

जब महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चभूत- ये सात तत्त्व परस्पर मिल न सके पृथक् पृथक् ही रह गये, तब जगत्के आदिकारण श्रीनारायणने काल, अदृष्ट और सत्त्वादि गुणोंके सहित उनमें प्रवेश किया।

ततस्तेनानुविद्धेभ्यो, युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम् ।

उत्थितं(म्) पुरुषो यस्मा-दुदतिष्ठदसौ विराट् ॥ 51॥

फिर परमात्माके प्रवेशसे क्षुब्ध और आपसमें मिले हुए उन तत्त्वोंसे एक जड अण्ड उत्पन्न हुआ। उस अण्डसे इस विराट् पुरुषकी अभिव्यक्ति हुई।

एतदण्डं(वँ) विशेषाख्यं(ङ्), क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः ।

तोयादिभिः(फ्) परिवृतं(म्), प्रधानेनावृतैर्बहिः ।

यत्र लोकवितानोऽयं(म्), रूपं(म्) भगवतो हरेः ॥ 52॥

इस अण्डका नाम विशेष है, इसीके अन्तर्गत श्रीहरिके स्वरूपभूत चौदहों भुवनोंका विस्तार है। यह चारों ओरसे क्रमशःएक-दूसरेसे दसगुने जल, अग्नि, वायु, आकाश,अहङ्कार और महत्तत्त्व-इन छः आवरणोंसे घिरा हुआ है। इन सबके बाहर सातवाँ आवरण प्रकृतिका है।

हिरण्मयादण्डकोशा-दुत्थाय सलिलेशयात् ।

तमाविश्य महादेवो, बहुधा निर्बिभेद खम् ॥ 53॥

कारणमय जलमें स्थित उस तेजोमय अण्डसे उठकर उस विराद् पुरुषने पुनः उसमें प्रवेश किया और फिर उसमें कई प्रकारके छिद्र किये।

निरभिद्यतास्य प्रथमं(म्), मुखं(वँ) वाणी ततोऽभवत् ।

वाण्या वह्निरथो नासे, प्राणोऽतो घ्राण एतयोः ॥ 54॥

सबसे पहले उसमें मुख प्रकट हुआ, उससे वाक्-इन्द्रिय और उसके अनन्तर वाक्का अधिष्ठाता अग्नि उत्पन्न हुआ। फिर नाकके छिद्र (नथुने) प्रकट हुए, उनसे प्राणसहित घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुई।

घ्राणाद्वायुरभिद्येता-मक्षिणी चक्षुरेतयोः ।

तस्मात्सूर्यो व्यभिद्येतां(ङ्), कर्णौ श्रोत्रं(न्) ततो दिशः ॥ 55॥

घ्राणके बाद उसका अधिष्ठाता वायु उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् नेत्रगोलक प्रकट हुए, उनसे चक्षु-इन्द्रिय प्रकट हुई और उसके अनन्तर उसका अधिष्ठाता सूर्य उत्पन्न हुआ। फिर कानोंके छिद्र प्रकट हुए, उनसे उनकी इन्द्रिय श्रोत्र और उसके अभिमानी दिग्देवता प्रकट हुए।

निर्बिभेद विराजस्त्व-ग्रोमश्मश्र्वादयस्ततः ।

तत ओषधयश्चासन्, शिश्नं(न्) निर्बिभिदे ततः ॥ 56॥

इसके बाद उस विराट् पुरुषके त्वचा उत्पन्न हुई। उससे रोम, मूँछ दाढ़ी तथा सिरके बाल प्रकट हुए और उनके बाद त्वचाकी अभिमानी ओषधियाँ (अन्न)आदि) उत्पन्न हुई। इसके पश्चात् लिङ्ग प्रकट हुआ।

रेतस्तस्मादाप आसन्, निरभिद्यत वै गुदम् ।

गुदादपानोऽपानाच्च, मृत्युर्लोकभयङ्करः ॥ 57॥

उससे वीर्य और वीर्यके बाद लिङ्गका अभिमानी आपोदेव (जल) उत्पन्नहुआ। फिर गुदा प्रकट हुई, उससे अपानवायु और अपानके बाद उसका अभिमानी लोकोंको भयभीत करनेवाला मृत्युदेवता उत्पन्न हुआ।

हस्तौ च निरभिद्येतां(म्), बलं(न्) ताभ्यां(न्) ततः(स्) स्वराट् ।

पादौ च निरभिद्येतां(ङ्), गतिस्ताभ्यां(न्) ततो हरिः ॥ 58॥

तदनन्तर हाथ प्रकट हुए, उनसे बल और बलके बाद हस्तेन्द्रियका अभिमानि इन्द्र उत्पन्न हुआ। फिर चरण प्रकट हुए, उनसे गति (गमनकी क्रिया) और फिर पादेन्द्रियका अभिमानी विष्णुदेवता उत्पन्न हुआ।

नाड्योऽस्य निरभिद्यन्त, ताभ्यो लोहितमाभृतम् ।

नद्यस्ततः(स्) समभवन्-नुदरं(न्) निरभिद्यत ॥ 59॥

इसी प्रकार जब विराट् पुरुषके नाडियाँ प्रकट हुई, तो उनसे रुधिर उत्पन्न हुआ और उससे नदियाँ हुई। फिर उसके उदर (पेट) प्रकट हुआ।

क्षुत्पिपासे ततः(स्) स्यातां(म्), समुद्रस्त्वेतयोरभूत् ।

अथास्य हृदयं(म्) भिन्नं(म्), हृदयान्मन उत्थितम् ॥ 60॥

उससे क्षुधा पिपासाकी अभिव्यक्ति हुई और फिर उदरका अभिमानी समुद्रदेवता उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् उसके हृदय प्रकट हुआ, हृदयसे मनका प्राकट्य हुआ।

मनसश्चन्द्रमा जातो, बुद्धिर्बुद्धेर्गिरां(म्) पतिः ।

अहङ्कारस्ततो रुद्रश्-चित्तं(ञ्) चैत्यस्ततोऽभवत् ॥ 61॥

मनके बाद उसका अभिमानी देवता चन्द्रमा हुआ। फिर हृदयसे ही बुद्धि और उसके बाद उसका अभिमानी ब्रह्मा हुआ। तत्पश्चात् अहङ्कार और उसके अनन्तर उसका अभिमानी रुद्रदेवता उत्पन्न हुआ। इसके बाद चित्त और उसका अभिमानी क्षेत्रज्ञ प्रकट हुआ।

एते ह्यभ्युत्थिता देवा, नैवास्योत्थापनेऽशकन् ।

पुनराविविशुः(ख्) खानि, तमुत्थापयितुं(ङ्) क्रमात् ॥ 62॥

जब ये क्षेत्रज्ञके अतिरिक्त सारे देवता उत्पन्न होकर भी विराट् पुरुषको उठानेमें असमर्थ रहे तो उसे उठाने के लिये क्रमशः फिर अपने-अपने उत्पत्तिस्थानोंमें प्रविष्ट होने लगे।

वह्निर्वाचा मुखं(म्) भेजे, नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।

घ्राणेन नासिके वायुर्-नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ 63॥

अग्निने वाणीके साथ मुखमें प्रवेश किया, परन्तु इससे विराट् पुरुष न उठा। वायुने घ्राणेन्द्रियके सहित नासाछिद्रोंमें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष न उठा।

अक्षिणी चक्षुषाऽऽदित्यो, नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।

श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो, नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ 64॥

सूर्यने चक्षुके सहित नेत्रोंमें प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा। दिशाओंने श्रवणेन्द्रियके सहित कानोंमें प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा।

त्वचं(म्) रोमभिरोषध्यो, नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।

रेतसा शिश्नमापस्तु, नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ 65॥

ओषधियोंने रोमोंके सहित त्वचामें प्रवेश किया फिर भी विराट् पुरुष न उठा। जलने वीर्यके साथ लिङ्गमे प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा।

गुदं(म्) मृत्युरपानेन, नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।

हस्ताविन्द्रो बलेनैव, नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ 66॥

मृत्युने अपानके साथ गुदामें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष न उठा। इन्द्रने बलके साथ हाथोंमें प्रवेश किया, परन्तु इससे भी विराट् पुरुष न उठा।

विष्णुर्गत्यैव चरणौ, नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।

नाडीर्नद्यो लोहितेन, नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ 67॥

विष्णुने गतिके सहित चरणोंमें प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा। नदियोंने रुधिरके सहित नाडियोंमें प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा ।

क्षुत्तृड्भ्यामुदरं(म्) सिन्धुर्-नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।

हृदयं(म्) मनसा चन्द्रो, नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ 68॥

समुद्रने-क्षुधा पिपासाके सहित उदरमें प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष न उठा। चन्द्रमाने मनके सहित हृदय प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा।

बुद्ध्या ब्रह्मापि हृदयं(न्), नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।

रुद्रोभिमत्या हृदयं(न्), नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ 69॥

ब्रह्माने बुद्धिके सहित हृदयमें प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा। रुद्रने अहङ्कारके सहित उसी हृदयमें प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा।

चित्तेन हृदयं(ञ्) चैत्यः(ह्), क्षेत्रज्ञः(फ्) प्राविशद्यदा ।
विराट् तदैव पुरुषः(स्), सलिलादुदतिष्ठत ॥ 70॥

किन्तु जब चित्तके अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञने चित्तके सहित हृदयमें प्रवेश किया, तो विराट् पुरुष उसी समय जलसे उठकर खड़ा हो गया।

यथा प्रसुप्तं(म्) पुरुषं(म्), प्राणेन्द्रियमनोधियः ।
प्रभवन्ति विना येन, नोत्थापयितुमोजसा ॥ 71॥

जिस प्रकार लोकमें प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि चित्तके अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञकी सहायताके बिना सोये हुए प्राणीको अपने बलसे नहीं उठा सकते, उसी प्रकार विराट् पुरुषको भी वे क्षेत्रज्ञ परमात्माके बिना नहीं उठा सके।

तमस्मिन् प्रत्यगात्मानं(न्), धिया योगप्रवृत्तया ।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन, विविच्यात्मनि चिन्तयेत् ॥ 72॥

अतः भक्ति, वैराग्य और चित्तकी एकाग्रतासे प्रकट हुए ज्ञानके द्वारा उस अन्तरात्मस्वरूप क्षेत्रज्ञको इस शरीरमें स्थित जानकर उसका चिन्तन करना चाहिये।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्) सं(म्)हितायां(न्)
तृतीयस्कन्धे कापिलेये तत्त्वसमाम्नाये षड्विं(म्)शोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः ॥